शोध मंथन Vol. XII No.IV Oct.-Dec. 2021 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com*

मध्यकाल में राजत्व का स्वरूप

प्राप्तिः 15.11.2021
स्वीकृतः 27.12.2021

डॉ० अजयपाल सिंह
एसोसिऐट प्रोफेसर, इतिहास विभाग
सनातन धर्म (पी०जी०) महाविद्यालय
मुजफ्फरनगर
ईमेलः *drapsingh73@gmail.com*

सारांश

राजत्व का सिद्धांत शासक के अधिकार, कर्तव्य, उसके राजनीतिक व धार्मिक महत्व की व्याख्या करता है। प्राचीन भारत में साम्राज्यों की स्थापना से पूर्व राजत्व के सिद्धांत में लोकतांत्रिक मूल्य के दर्शन होते हैं जबकि साग्राज्यों की स्थापना के युग में राजत्व के दैवी सिद्धांत का पोषण किया गया। जिसके आधार पर राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि कहा जाने लगा और उसे अनियंत्रित शक्तियां प्राप्त हुई किन्तु उससे यह अपेक्षा की गई कि राज्य संचालन में वह धर्म, नीति और परंपराओं का पालन करेगा। देवनाम् प्रिय सम्राट अशोक, चंद्रगुप्त विक्रमद्वितीय और हर्षवर्धन ने आदर्श शासन की परिकल्पना को साकार करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की थी। हर्ष की मृत्यु के बाद भारत पर अरबों का आक्रमण हुआ और भारत मे इस्लाम धर्म का आगमन हुआ। इस्लाम में धर्म और राजसत्ता आपस में जुड़े होते है तथा इस्लाम के अंतर्गत विभिन्न कबीलों द्वारा चयनित शासक को प्रशासक, सेनानायक तथा धर्म–प्रमुख की तिहरी भूमिका निभानी होती थी। सल्तनत काल में सुल्तान को खलीफा के नायब के रूप में स्वयं को स्थापित करना होता था वहीं मुगल काल में शासक को पादशाह या बादशाह के रूप में स्वयं को स्थापित करना था। सुल्तान पद की तुलना में पादशाह अथवा बादशाह का पद अधिक गरिमा, प्रतिष्ठा और शक्ति का घोतक था।

सल्तनत काल में राजत्व की स्थिति

पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब ने अपने जीवनकाल में किसी उत्तराधिकारी को नहीं चुना था। उनकी मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी के रूप में खलीफाओं का दौर आरंभ हुआ तथा साथ ही इस्लाम के व्यापक प्रचार–प्रसार के साथ–साथ खलीफा की खिलाफत का भी विस्तार हुआ। इससे खलीफा के दायित्व इतने अधिक हो गए कि उनके लिए शासन का निर्वहन असंभव हो गया तो उन्होंने अपने प्रतिनिधि के रूप में सुल्तान को मान्यता दी। भारतीय परिप्रेक्ष्य में सुल्तानों की भारतीय सत्ता को स्थायित्व प्रदान करने तथा सामाजिक सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए कुछ निश्चित उपाय अपनाने की जरूरत थी, जो निश्चित तौर पर निरंकुशता में वृद्धि लाते। पहली आवश्यकता थी उस सामंती व्यवस्था के स्थान पर एक केंद्रीय व्यवस्था की स्थापना की जाए क्योंकि सामंती व्यवस्था भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को खण्डात्मक की ओर ले गई थी। इसका परिणाम आर्थिक और सामाजिक अगतिशीलता के रूप में सामने आया था। तुर्क शासकों ने इसी अगतिशील व्यवस्था में नए तत्वों को समाविष्ट किया जिससे कि एक केंद्रीय शासन व्यवस्था की स्थापना की जा सके। भारत

और ईरान में प्राचीन समय से ही यह माना जाता था कि 'राजा में देवी गुणों का समावेश है[1], परंतु इस्लाम इसकी अनुमति नहीं देता। अतः देवत्व सुल्तान के शरीर से नहीं उसके पद से जोड़ दिया गया। उसे जिल्लेइलाही अर्थात ईश्वर की परछाई कहा गया तथा जनता व अमीरों से आशा की जाने लगी कि वे उसे वैसे ही झुककर सिजदा करें जैसे अल्लाह के आगे करते हैं।

सल्तनत काल में पांच राजवंशों गुलाम वंश (ममलूक वंश), खलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश तथा लोदी वंश ने क्रमिक रूप से शासन किया। तराइन के द्वितीय युद्ध की विजय के बाद तुर्क राजसत्ता स्थापित हुई और मोहम्मद गौरी ने भारत का प्रतिनिधित्व अपने गुलाम कत्बुद्दीन को दिया।[2] "मोहम्मद गौरी ने कुत्बुद्दीन ऐबक को मलिक सिपहसालार तथा वली अहद घोषित किया।[3] मोहम्मद गौरी की मृत्यु के पश्चात ऐबक ने गुलाम वंश की स्थापना की और सुल्तान की पदवी धारण नहीं की। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि उसने पूर्ण रूप से स्वतंत्र न होकर गजनी के अधीन रहकर शासन किया। इस वंश के शासकों ने तुर्क राजत्व के सिद्धांत का पोषण किया जिसमें सुल्तान को शरीयत के अनुसार शासन करना आवश्यक होता था।

कुत्बुद्दीन ऐबक के बाद उसके दास और दामाद इल्तुतमिश ने शासन को हस्तगत किया। इल्तुतमिश, ऐबक का गुलाम था और तुर्क अमीरों के व्यवहार से भली भांति परिचित था इसलिए सुल्तान पद पर बैठने के बाद सर्वप्रथम यह आवश्यक था कि वह उद्दंड एवं अनुशासनहीन सरदारों को एक शासन के नीचे लाए। ऐसा उसने किया भी क्योंकि जो बचे हुए मुइज्जी और कुत्बी सरदार थे, उन्होंने या तो उसकी अधीनता स्वीकार कर ली या भाग गए। इस आधार पर इल्तुतमिश को तुर्कों की विजय को वास्तव में सुदृढ़ बनाने वाला सुल्तान मानना चाहिए।[4] प्रशासनिक क्षेत्र में समयाभाव के कारण जो कार्य ऐबक नहीं कर पाया था, उसे इल्तुतमिश ने प्रारंभ किया और बलबन ने उसे पूरा किया। वास्तव में अभी राजधानी के अतिरिक्त तुर्क सत्ता कमजोर थी। जिसे मजबूत प्रशासनिक संस्थाओं की स्थापना से ही स्थापित किया जा सकता था। अतः उसने मजबूत इक्ता (अक्ता) व्यवस्था लागू की। उसने तुर्क सरदारों को इक्ताएँ बांटकर एक बड़ी कमी को पूरा किया और एक लंबी श्रृंखला तैयार की नवीन राज्य खड़ा हो सकता था।

इल्तुतमिश की मृत्यु (1236 ई0.) के पश्चात उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण सिंहासन की प्रतिष्ठा धूमिल हो चुकी थी।[5] तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन करते हुए बरनी लिखता है कि "श्रेष्ठ शासन प्रणाली के आधार और राज्य के गौरव एवं ऐश्वर्य के घोतक, शासन–शक्ति का भय लोगों के मन से हट गया और देश की दशा बहुत शोचनीय हो गई थी"। इस स्थिति को सुधारने के लिए इल्तुतमिश के गुलाम बलबन ने निरंकुश, स्वेच्छाचारी शासन का मार्ग अपनाया तथा बलबन ने स्वयं को हखमनी और सासानी वंश से बताया और उसने स्वयं को जिल्लेइलाही तथा नियाबत–ए–खुदाई बताया, जिसमें सुल्तान के समक्ष सिजदा (झुककर अभिवादन) करना और पैबोस/पायबोस (पैर को चूमना) जैसी गैर मुस्लिम परंपराओं का प्रचलन किया।[6] सुल्तान को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से उसने वैभवशाली एवं गरिमापूर्ण दरबार लगाया। इस दरबार में सुल्तान के सामने सभी हाथ बांधकर खड़े रहने के लिए बाध्य थे। शासक के लिए आम इंसान की तरह हंसना या रोना तक निषिद्ध हो गया। अभिजात वर्ग, उलेमा तथा विद्वानों के अतिरिक्त उसने आम आदमी से मिलना जुलना बंद कर दिया और यह कहा कि "जब मैं किसी नीच कुल में जन्मे व्यक्ति को देखता हूँ मेरी आंखें जलने लगती है और गुस्से में हाथ तलवार पर जा पड़ता है।

बलबन ने इन गैर इस्लामिक प्रथाओं के द्वारा गिरती हुई ताज की प्रतिष्ठा को पुनः उठाया परंतु उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्य कारण ताज की प्रतिष्ठा फिर से गिर गयी।[7]

तथाकथित गुलाम वंश के पतन के पश्चात खलजी वंश सत्ता में आया। इसका संस्थापक जलालुद्दीन खलजी ने सबके प्रति शांति की नीति अपनाई। जलालुद्दीन की हत्या उसके भतीजे तथा दामाद अलाउदीन खलजी ने अपने अनुयायी सलीम द्वारा करा दी। विशुद्ध राजनीतिक दृष्टि से अलाउद्दीन द्वारा जलालूद्दीन की हत्या करने का कृत्य जघन्य अपराध था। अतः शीघ्र ही उसने दिल्ली सहित सल्तनत की समस्त जनता को स्वयं को सुल्तान मानने को राजी कर लिया। उसने यह कहने का साहस किया कि वह उलेमा लोगों के निर्देषों का पालन करने को तैयार नहीं है।[8] अलाउद्दीन काजी मुगीसुद्दीन से कहा कि मैं राज्य हित के लिए जो उचित समझता हूँ वहीं करने का आदेश देता हूँ और कयामत के दिन मेरा क्या होगा यह मैं नहीं जानता। अलाउदीन खलजी ने बलबन के राजत्व के दैवी सिद्धांत का पोषण किया। उसने स्वयं को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित किया तथा उसका यह मानना था कि शासक का शब्द ही कानून होना चाहिए। अलाउद्दीन ने खलीफा से खिलअत अथवा उपाधि प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया और उसने स्वंय 'यास्मिन–उल–खिलाफत–नासिरी–अमीर–उल–मुमिनीन' की उपाधि धारण की।[9] अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी मुबारकशाह खलजी ने भी खलीफा को मान्यता नहीं दी और स्वयं खलीफा की उपाधि धारण की।

गयासुद्दीन तुगलक के समय राजत्व की स्थिति निम्न स्तर पर थी और वह पहले की अपेक्षा सच्चा आदर्श स्थापित नहीं कर सका परंतु उसका पुत्र मुहम्मद बिन तुगलक एक नए दृष्टिकोण के साथ शासन संभालता है परंतु वह प्रारंभिक तुर्कों जैसा राजत्व स्थापित नहीं कर सका। उसके समय जन कल्याण के लिए अत्यधिक कार्य हुए तथा उसकी बनाई हुई सभी योजनाएं लगभग असफल रही परन्तु उसके समय शासन की नौकरी में प्रवेश के लिए कोई उच्चवर्गीय पैमाना नही था। अब तुर्क और ताजिक के अतिरिक्त भारतीय और अफगानी मुसलमान के साथ हिंदू भी राजकीय कार्यो में प्रवेश पाने लगे। उससे एक धर्म विशेष वर्ग बहुत रूष्ट था क्योंकि उसने उलेमा वर्ग को शासन में हस्तक्षेप की अनुमति नहीं दी।[10]

मुहम्मद बिन तुगलक ने बलबन के राजत्व के दैवी सिद्धांतों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया और इस मान्यता को प्रभावी बनाया कि सुल्तान ईश्वर का प्रतिबिंब (जिल्लेअल्लाह) है और उसके अनुसार सभी को सुल्तान की आज्ञा पालन करना चाहिए। सुल्तान की आज्ञा का पालन करना ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है, क्योंकि सुल्तान का चुनाव ईश्वर करता है। वह स्वयं को 'मुहिये सुन्नाने ख़ातिमुन्नबीन' (अन्तिम पैगम्बर की परंपराओं को पुनर्जीवित करने वाला) कहता था लेकिन उसने बलबन के वंशीय श्रेष्ठतावाद की बजाय बुद्धिवाद को अपने विचारों का आधार बनाया। उसने अपने राज्य में पितृत्व और भातृत्व को समाविष्ट करने की कोशिश की थी।[11] फिरोज बिन तुगलक ने अपने राजस्व के सिद्धांत में ईश्वर तत्व की बजाय खिलाफत को महत्ता प्रदान की। उसने फुतुहात–ए–फीरोजषाही में लिखा है कि मुझे ईश्वर ने इस योग्य बनाया कि मेरा दढ़ विश्वास हो गया और खलीफा के दरबार से मुझे पूर्ण अधिकार प्राप्त होने व खलीफा का नायब होने का आदेश प्राप्त हो गया। इस प्रकार से यदि देखा जाए तो फिरोजशाह के काल मे राजत्व की प्रतिष्ठा पहले की अपेक्षा कम हुई। सैय्यद वंश के शासक स्वयं को पैगम्बर का वंशज मानते थे परंतु इनके समय राजत्व का हास हुआ क्योंकि इस वंश के शासकों ने सुल्तान की उपाधि ही धारण नहीं की।

बहलोल लोदी अफगान जाति का था। वह अफगानों की कबाइली राजनीतिक अवधारणा में विश्वास करता था। शासक की पूर्ण संप्रभुता और उसकी निरंकुश शक्ति में अफगानों की आस्था नहीं थी। उनका विश्वास शासक अथवा मुखिया के चुनाव में था न कि राजत्व के दैवीय सिद्धांत में अफगान वंशानुगत शासन की अवधारणा व अपनी कबाइली संस्कृति में विश्वास रखते थे। अफगानों के विभिन्न कबीले शासक को अपनी बिरादरी का मुख्य मानते थे न कि अपना स्वामी। बलबन, अलाउदीन खिलजी और मुहम्मद बिन तुगलक के राजत्व के दैवीय सिद्धांत के विपरीत सुल्तान बहलोल लोदी अफगानों के कबाइली और कुनबे की राजनीतिक अवधारणा में विश्वास d jr kFkkA og d Hkh mul s¼Qxku½ ÅapsLFkku i j ughacBr kFkkA[12] बहलोल लोदी द्वारा अपने अमीरों को आवश्यकता से अधिक महत्व देने के कारण ताज की प्रतिष्ठा को बहुत अधिक धक्का लगा। अतः स्थिति को पुनः बहाल करने के लिए सिकंदर लोदी ने अमीरों को नियंत्रित करने के लिए कठोर नीति का अनुसरण किया। सिकंदर लोदी ने सिंहासन पर बैठना आरंभ किया, सरदारों को नतमस्तक होकर अभिवादन करने के लिए बाध्य किया। उसने दरबार और दरबार के बाहर सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्षित करने के नियम बनाए। प्रांतीय अमीरों को अपनी राजधानी से छह मील चलकर सुल्तान के आदेशों को सम्मानपूर्वक ग्रहण करने की प्रथा प्रचलित की, न्याय में सबके साथ समान व्यवहार किया, सरदारों की इक्ताओ तथा जागीरों में परिवर्तन किए। सरदारों को परस्पर झगड़ने से रोका तथा सभी को अपने आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य किया। जो सरदार सुल्तान की आज्ञा की अवहेलना करते थे उन्हें कठोर दंड दिया जाता था। उसने जहाँ तक हो सका अमीरों की भावनाओं का सम्मान किया परन्तु सामाजिक सुरक्षा के लिए उन्हें उतने नियंत्रण में रखा जाना आवश्यक था। इस प्रकार सिकंदर लोदी की नीति में कठोरता के साथ–साथ उदारता और व्यवहारिकता का भी समावेश था।

सिकंदर लोदी की मृत्यु के पश्चात इब्राहीम लोदी के सुल्तान बनते ही सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में संघर्ष प्रारंभ हो गया। इब्राहीम ने अपने पिता की भाँति कठोर नीति का ही अनुसरण किया। इब्राहीम ने सिंहासन पर अपनी स्थिति सुरक्षित करने के बाद तुर्क सुलतानों के समान पूर्ण निरंकुशता की नीति अपनाने का निश्चय किया। तुर्की राजत्व सिद्धांत से प्रेरित होकर उसने मूर्खतापूर्ण घोषणा की कि सुल्तान का कोई सम्बन्धी नहीं होता, सभी सुल्तान के अधीनस्थ सामंत अथवा प्रजाजन होते हैं। इब्राहीम अपनी निरंकुश सत्ता को व्यावहारिक रूप में प्रकट करने के लिए दरबार में उच्च सिंहासन पर बैठता था। उसका आदेश था कि जब तक सुल्तान दरबार में उपस्थित हो कोई भी अमीर बैठ नहीं सकता था। उन्हें नम्र भाव से हाथ बांधे खड़े रहना पड़ता था। सुल्तान के इस व्यवहार से अमीरों में रोष बढ़ता गया और उन्होंने सुल्तान के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। जिसका अन्ततः परिणाम लोदी साम्राज्य का पतन था। इस तरह से अफगान काल में राजत्व विरोधाभाषी तत्वों का सम्मिश्रण रहा। अंततः निरंकुशता के तत्वों की स्थापना और उससे उपजने वाली प्रतिक्रिया ने राज्य को अस्थिर कर दिया।

मुगल काल में राजत्व की स्थिति

मुगल राजत्व शोषण, दमन, असमानता, निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता, धार्मिक संकीर्णता और वंशवाद का पोषक था। मुगलों ने मध्यकालीन राजनीतिक वातावरण में शासक के अधिकार और कर्तव्य में एक व्यावहारिक सामंजस्य करने का प्रयास किया था। अकबर, जहाँगीर और एक सीमा

तक शाहजहाँ ने मुस्लिम मान्यताओं पर आधारित राजल के सिद्धांत में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया था। जिस काल में यूरोप में धर्मयुद्ध के नाम पर रक्तपात हो रहा था, उस काल में मुगल बादशाहो ने अपनी गैर मुस्लिम प्रजा को अपने साम्राज्य में शांतिपूर्वक सुख से जीने का अधिकार प्रदान कर अपनी उदारता का परिचय देने का प्रयास किया।

बाबर ने 1526 ई0. में दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी को पानीपत में पराजित करके भारत में मुगल वंश की स्थापना की। मुगल राज्य की बुनियाद रखने वाला बाबर वंष क्रम में चंगेज खान और तैमूर से सबंधित था। बाबर ने सुल्तान की उपाधि त्यागकर बादशाह की उपाधि धारण की। मध्यकालीन भारत में राजत्व की व्यवस्था में यह नए तत्व का प्रवेश था।[13]

हुमायूँ, ने बादशाहत के बारे में तुर्की मान्यता पर ही बल दिया कि बादशाह खुदा की परछाई (हज़रत पादशाह, जिल्लेइलाही) है।[14] वह मानता था कि जिस प्रकार ईश्वर अपने प्राणियों के साथ व्यवहार करता है उसी प्रकार से बादशाह को अपनी प्रजा के साथ करना चाहिए। शेरशाह सूरी मध्यकालीन भारत के इतिहास में उत्कृष्ट शासन प्रबंध के लिए प्रसिद्ध है। शेरशाह की राजत्व की धारणा लोदी सुलतानों से भिन्न थी। उसने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि अफगान राजत्व का कबाइली स्वरूप हिंदुस्तान में व्यवहारिक नहीं है क्योंकि इसमें शासन की दुर्बलता प्रकट होती है। इसलिए अफगान परंपराओं की उपेक्षा करते हुए उस तुर्को की निरंकुश सत्ता के सिद्धांत को अपनाया।[15]

अकबर ने अपने शासनकाल में बादशाहत की संकल्पना को उच्चतम स्तर ले जाने के लिए कुछ ऐसे मानदंड निर्धारित किये जो पहले से चला रहे मानदंडों से मिलते जुलते थे। अकबर का राजत्व का सिद्धांत दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत पर आधारित था, जिसमें अकबर को ईश्वर की परछाई (जिल्लेइलाही) कहा गया। अबुल फजल ने राजत्व या बादशाहत के बारे में जो विचार व्यक्त किये उनसे भी इस संकल्पना की पुष्टि हुई। उसके अनुसार बादशाहत खुदा से निकलने वाली रोशनी (फर्र–ए–इजदी) है और उसे खुदा ने ही भेजा है। अतः बादशाह के विरुद्ध विद्रोह करना अथवा उसके आदेश की अवज्ञा करना ईश्वरीय आदेश की अवमानना है। अबुल फजल ने बादशाह को प्रजा के संरक्षक, उसके पालक, शुभचिंतक और अभिभावक के रूप में प्रस्तुत किया।[16] इस प्रकार बादशाह के एक अपरिमित अधिकारों के साथ उसके कर्तव्यों को जोड़ दिया गया क्योंकि पिता के पद की गरिमा और उसके अधिकारों को बिना किसी दायित्व के ग्रहण नहीं किया जा सकता। अबुल फजल के अनुसार, बादशाह का कार्य राज्य में शांति एवं व्यवस्था स्थापित कर उसे सुदृढ़ता तथा सुरक्षा प्रदान करना है। अगर बादषाह का अस्तित्व नहीं होता तो हर जगह अषांति, अराजकता व्याप्त रहती और निहित स्वार्थ में लिप्त व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का हनन करते। समस्त मानव जाति के लिए इन विनाशकारी प्रवृतियों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए बादशाह को अपनी शक्ति का भय दिखलाना आवश्यक है। बादशाह के प्रति आज्ञाकारी और उसके प्रति निष्ठा व स्वामीभक्ति प्रदर्शित करना उसकी प्रजा का कर्तव्य है।

प्रजापालक बादशाह जनकल्याण, सर्वतोन्मुखी प्रगति तथा निष्पक्ष न्याय का जीवंत प्रतीक होता है। एक आदर्श बादशाह सुख–दुःख से परे होता है। उसमें ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश प्रतिबिंबित होता है, इसलिए उसे अपनी प्रजा का अध्यात्मिक गुरु अथवा मार्गदर्शक बनने का भी अधिकार है। 1579 ई० में अकबर ने मजहर की घोषणा की जिसके आधार पर मुसलमानों के धार्मिक विवादों के

विषय में अंतिम निर्णय देने का अधिकार उसने अपने पास सुरक्षित रखा।[17] यद्यपि बदायूंनी का दावा है कि अकबर धीरे–धीरे इस्लाम से हट गया और उसने एक नया धर्म (दीन–ए–इलाही) चलाया जो अनेक धर्मों का मिला जुला स्वरूप था। अकबर ने अपनी नीति सुलह–ए–कुल के क्रियान्वयन के लिये ये सभी नीतियाँ लागू की थीं।

जहांगीर एवं शाहजहाँ के शासनकाल में अकबर की नीति का ही अनुसरण किया गया और शाहजहाँ के शासनकाल में दिल्ली के लाल किले में उद्यान योजना, नहरें बहिश्त, दीवाने खास में शाहजहाँ के दरबार का अनुपम वैभव तख्त–ए–ताउस पर उसका विराजमान होना तथा दीवाने–खास को पृथ्वी पर स्वर्ग के रूप में प्रस्तुत करना शाहजहाँ द्वारा स्वयं को स्वर्गलोक के शासक इंद्र के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास कहा जा सकता है।

औरंगजेब ने स्वयं को इस्लाम के संरक्षक के रूप में प्रस्तुत कर उत्तराधिकार की युद्ध में सफलता प्राप्त की थी। बादषाह बनने के बाद इस्लाम के मान्य राजत्व सिद्धांत को पुर्नस्थापित करना उसके प्रारम्भिक कार्यक्रम में सम्मिलित था। उसने व्यक्तिगत जीवन में सादगी, परिश्रम और धर्माचरण को अपनाया। उसके जीवन में ही उसकी छवि आलमगीर जिंदापीर की बन गई क्योंकि औरंगजेब ने इस्लाम को पुनः राजधर्म घोषित कर दिया था।[18] अतः उसने उलेमा वर्ग को राज्य की नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर दान किया। औरंगजेब के काल में अकबर और शाहजहाँ के काल के शाही वैभव का स्थान सादगी ने ले लिया और बादशाह के सामने सिजदा और पैबोस जैसी गैर मुस्लिम प्रथा को समाप्त कर दिया गया था। साथ ही झरोखा दर्शन तथा तुलादान जैसी हिंदू परंपराओं को भी समाप्त कर दिया गया। औरंगजेब एक स्वेच्छाचारी, निरंकुश बादशाह के स्थान पर एक ऐसा सच्चा धर्मनिष्ठ मुसलमान बादशाह बनना चाहता था, जिसका कोई कार्य इस्लाम की मूल आस्था तथा परंपराओं के विरुद्ध न हो।

उत्तरवर्ती मुगल शासकों के समय मुगल राजत्व का सिद्धांत निम्न स्तर पर था क्योंकि राजत्व का सिद्धांत बादशाह पद को तब तक ही गरिमा प्रदान कर सका जब तक मुगल शासक शक्तिशाली रहे। महान मुगल बादशाहों के अवसान के बाद परवर्ती मुगल शासकों के काल में उनका राजत्व का सिद्धांत व्यावहारिक दृष्टि से पूर्णतया निरर्थक हो गया। अब सैय्यद बंधु, इमाद–उल–मुल्क अथवा नजीबुद्दौला जैसे प्रभावशाली अमीर बादशाह को शतरंज की मोहरों की भांति बदलने लगे थे। इन निर्बल और कठपुतली बादशाहो में से शायद ही किसी की स्वाभाविक मृत्यु हुई हो। वे अधिकांशतया प्रभावशाली व महत्वाकांक्षी अमीरों के हाथों मारे गए थे। बादशाह के प्रति न तो किसी हृदय में भय का भाव रह गया और न ही श्रद्धा का।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बाबर ने सुल्तान के स्थान पर बादशाह की उपाधि धारण की। बादशाह पूर्ण संप्रभुता प्राप्त शासक था जबकि सुल्तान को पद की वैधानिकता खलीफा द्वारा प्रदान की जाती थी। इस प्रकार बादशाह का दर्जा सुल्तान से कहीं अधिक ऊंचा था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि बादशाह को अपने पद की वैधानिकता के लिए खलीफा की मान्यता की आवश्यकता नहीं रह गई थी। अंत में यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल में राजत्व का स्वरूप शासको की नीति अनुसार परिवर्तित होता रहा। यह सामान्यतः निरंकुश, स्वेच्छाचारी राजतंत्र का पोशक था। इस काल में राजत्व का लोकतांत्रिक मूल्यों, जनभावना का सम्मान, नागरिक अधिकारों, बौद्धिक राजनीतिक दृष्टिकोण व धर्मनिरपेक्षता आदि से कोई सम्बन्ध नहीं था।

संदर्भ

1. चन्द्र, सतीष, *मध्यकालीन भारत,* ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2016, पृ0. 118
2. महाजन, वी0डी0, *मध्यकालीन भारत,* एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि0., 2007, पृ0. 81
3. वर्मा, हरिश्चन्द्र (संपादक), *मध्यकालीन भारत खण्ड–1 (750–1540 ई0.)* हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विष्वविद्यालय, दिल्ली, 1996, पृ0. 151
4. महाजन, वी0डी0, *मध्यकालीन भारत,* एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि0., 2007, पृ0. 75
5. प्रसाद, ईश्वरी, *मध्य युग का इतिहास (1200–1526 ई0.),* इंडिया प्रेस प्रा0लि0., इलाहाबाद, 1968, पृ0. 175
6. वर्मा, हरिश्चन्द्र (संपादक), *मध्यकालीन भारत खण्ड–1 (750–1540 ई0.)* हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1996, पृ0. 184
7. वहीं, पृ0. 183
8. श्रीवास्तव, आशीर्वादलाल, *दिल्ली सल्तनत,* शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, 1962, पृ0. 128, 129, 161
9. लाल, के0एस0, *खलजी वंश का इतिहास (1290–1320 ई0.) द्वितीय संस्करण,* विश्व प्रकाशन नई दिल्ली, 1993, पृ0. 121; वर्मा, हरिश्चन्द्र, वहीं, पृ0. 207
10. सरण, परमात्मा, *मध्यकालीन भारत,* श्री लक्ष्मी नारायण प्रेस, बनारस, 1925, पृ0. 132
11. हबीब, मुहम्मद, निजामी, के0ए0 (संपादन), *दिल्ली सुल्तनत (1206–1526) भाग–1,* अनुवादक डा0. एस0बी0पी0 निगम, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1978, पृ0. 426–27
12. सरण, परमात्मा, *मध्यकालीन भारत,* श्री लक्ष्मी नारायण प्रेस, बनारस, 1925, पृ0. 142; शर्मा, एल0पी0, *दिल्ली सल्तनत (700–1526 ई0.),* लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 2002, पृ0. 262
13. श्रीवास्तव, आशीर्वादलाल, *मुगलकालीन भारत,* शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा, 1953, पृ0. 31
14. वर्मा, हरिश्चन्द्र (संपादक), *मध्यकालीन भारत, खण्ड–2,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2006, पृ0. 41
15. सरण, परमात्मा, *मध्यकालीन भारत,* श्री लक्ष्मी नारायण प्रेस, बनारस, 1925, पृ0. 204
16. वर्मा, हरिश्चन्द्र (संपादक), *मध्यकालीन भारत, खण्ड–2,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2006, पृ0. 41, 42
17. चन्द्र, सतीश, *मध्यकालीन भारत,* ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2016, पृ0. 250
18. श्रीवास्तव, आशीर्वादलाल, *मुगलकालीन भारत,* शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा, 1953, पृ0. 345